है माओवाद ?

जार्ज बुश के दोतरफे फार्मूले में फिट कर दिया है : यदि आप हमारे साथ नहीं हैं तो माओवादियों के साथ हैं। माओवादी खतरे को जान-बूझ कर बड़ा दिखाने से राज्य को अपने सैन्यीकरण को सही ठहराने में मदद मिलती है और निश्चित तौर पर इससे माओवादियों का कोई नुकसान नहीं होता। आखिर कौन-सी राजनीतिक पार्टी इतना ज़्यादा प्रचार मिलने से दुखी होगी? 'आतंक के खिलाफ़ युद्ध' के इस नये नारे ने जहां सारा ध्यान खींचा हुआ है, वहीं राज्य इस मौके का इस्तेमाल कर सैंकड़ों अन्य प्रतिरोध आंदोलनों को माओवादी समर्थक करार दे कर उन्हें अपने सैन्य अभियान के लपेटे में ले लेगा। यह प्रक्रिया जारी है। लालगढ़ में पुलिसी संत्रास बिरोधी जनसाधारणेर कमेटी को जो कि अलग जन आंदोलन है, यद्यपि इसकी सहानुभूति माओवादियों के साथ है-लगातार सीपीआई (माओवादी) की खुले रूप मे काम करने वाली शाखा बताया जा रहा है। गैर जमानती हिरासत में रखे गये इसके नेता छत्रधर महतो को हमेशा 'माओवादी' नेता कहा जाता है। पेशे से डॉक्टर और नागरिक स्वतंत्रता के लिए काम करने वाले कार्यकर्ता डॉ. विनायक सेन की कहानी तो हम सभी जानते हैं, जिन्हें माओवादियों का संदेशवाहक कह कर फर्जी आरोप में दो साल तक जेल में रखा गया। आज भले ही ऑपरेशन ग्रीन हंट पर सबकी निगाह है, लेकिन भारत के अन्य हिस्सों में-जो कि युद्ध क्षेत्र से बाहर हैं-ग़रीबों, श्रमिकों, भूमिहीनों, और जिनकी ज़मीनें सरकार 'सार्वजनिक उद्देश्य' के नाम पर हड़पना चाह रही है, उनके अधिकारों पर हमला और तेज़ होगा। उनका दर्द और गहराता जायेगा और इसे सुनने वाला कोई नहीं होगा। एक बार युद्ध शुरू हो जाने पर दूसरे युद्धों की तरह इसकी भी अपनी गति बन जायेगी। इसके पक्ष में दलीलें शुरू हो जायेंगी, इसकी अपनी आर्थिकी विकसित हो जायेगी। यह एक ऐसी जीवन शैली बन जायेगा कि इसे पलटना तकरीबन असंभव होगा। पुलिस से उम्मीद की जायेगी कि वह सेना की तरह बर्ताव करे। बर्बर हत्यायें करने वाली टोली की तरह। अर्द्धसैन्य बलों से उम्मीद की जायेगी कि वे भ्रष्ट और बदनाम पुलिस की तरह प्रशासन करें। नगालैंड, मणिपुर और कश्मीर में ऐसा ही हो रहा है। यहां फर्क सिर्फ यह होगा कि सुरक्षा बलों को बहुत जल्दी यह बात समझ में आ जायेगी कि जिन लोग़ों के खिलाफ़ वे लड़ रहे हैं, उनके मुकाबले वे जरा-सा ही कम दयनीय हैं। समय के साथ ही लोग़ों और कानून के रक्षकों के बीच की विभाजक रेखा पतली होती जायेगी। बंदूक और गोलियों की खरीद-फरोख्त होने लगेगी। दरअसल, ऐसा हो भी रहा है। चाहे वे सुरक्षा बल हों या माओवादी या फ़िर लड़ाई में शामिल आम नागरिक, अमीरों के इस युद्ध में निर्धनतम लोग़ ही मारे जायेंगे। लेकिन अगर कोई ऐसा सोच रहा है कि इस युद्ध से उसे कोई फर्क नहीं पड़ेगा तो उसे एक बार फिर से सोच लेना चाहिए। इस युद्ध में जो संसाधन लगने जा रहे हैं, वे इस देश की अर्थव्यवस्था को कुंद कर देंगे।

गत वर्ष अक्टूबर के अंत में देश भर के नागरिक स्वतंत्रता समूहों ने दिल्ली में सिलसिलेवार कई बैठकें आयोजित कर चर्चा की कि इस युद्ध को कैसे रोका जाये। वक्ताओं में उदार से लेकर क्रांतिकारी वाम तक के विचारों का प्रतिनिधित्व था। हालांकि वक्ताओं में से किसी ने भी खुद को माओवादी नहीं कहा, कुछ सैद्धांतिक रूप से इस विचार के विरोधी थे कि लोग़ों को राजकीय हिंसा से खुद को बचाने का अधिकार हो। कई को माओवादी हिंसा, संक्षिप्त फैसले लेने वाली 'जन अदालतों' और उस सत्तावाद से दिक्कत थी, जो एक सशस्त्र संघर्ष में खुद ही अपनी जगह बना लेते हैं तथा निरस्त्रों को हाशिये पर डाल देते हैं। अपनी बेचैनी बयान करते हुए भी ये वक्ता इस बात से वाकिफ थे कि जन अदालतें इसलिए वजूद में हैं क्योंकि भारतीय अदालतें आम आदमी की पहुंच से बाहर हैं और इस बात से भी कि यह सशस्त्र संघर्ष उन लोग़ों का पहला नहीं, बल्कि आखिरी विकल्प है जिन्हें अस्तित्व के हाशिये पर धकेल दिया गया है। ऐसी स्थितियों में जबकि हालात युद्ध के बनते जा रहे हों, इक्की-दुक्की बर्बर घटनाओं से सीधा-सीधा नैतिक संदेश निकालने की कोशिश में छुपे खतरों से ये वक्ता पूरी तरह वाकिफ थे। हर कोई बहुत पहले ही राज्य द्वारा बरपाई जाने वाली ढांचागत हिंसा और सशस्त्र प्रतिरोध की हिंसा को समान मानने वाली वैचारिक अवस्थिति से आगे निकल चुका था। यहां तक कि सेवानिवृत न्यायाधीश पी.बी.सावंत ने तो माओवादियों को धन्यवाद तक दे डाला कि उन्होंने इस देश के सत्ता प्रतिष्ठान को इस तंत्र में निहित अन्यायों की तरफ ध्यान देने के लिए बाध्य किया है। आंध्रप्रदेश के हरगोपाल ने नागरिक अधिकार कार्यकर्ता के रूप में राज्य में माओवाद की सक्रियता की शुरुआत से लेकर अब तक के दौर के अपने अनुभवों के बारे में बताया। उन्होंने अपने वक्तव्य में चलते-चलते इस तथ्य का उल्लेख भी किया कि सन् 2002 में गुजरात में बजरंग दल और विश्व हिंदू परिषद् के नेतृत्व में हिंदू दंगाइयों ने कुछ ही दिनों के भीतर जितने लोग़ मारे, उतने तो माओवादियों ने आंध्रप्रदेश में अपने सबसे खूनी दौर में भी नहीं मारे।

जो लोग़ लालगढ़, झारखंड, छत्तीसगढ़ और उड़ीसा जैसे युद्धक्षेत्रों से आये थे, उन्होंने वहां पुलिसिया दमन, गिरफ़्तारी, प्रताड़ना, हत्या और भ्रष्टाचार का बयान किया। उन्होंने बताया कि किस तरह उड़ीसा जैसी जगहों पर पुलिस सीधे-सीधे खदान कंपनियों के अधिकारियों से मिले आदेशों पर काम करती है। लोग़ों ने अनुदान पा रही कुछ स्वयंसेवी संस्थाओं की संदिग्ध और निंदनीय भूमिका के बारे में बताया जो पूरी तरह कॉरपोरेट हितों को साधने के लिए समर्पित हैं। इन्होंने एक नहीं, कई बार बताया कि कैसे झारखंड और छत्तीसगढ़ में महज असहमति जाहिर करने वाले कार्यकर्ताओं और आम लोग़ों को माओवादी बता कर अंदर कर दिया जाता है। उनका कहना था कि यह सबसे बड़ी वजह है जो लोग़ों को हथियार उठाने और माओवादियों के साथ जाने पर मजबूर कर रही है। उन्होंने सवाल किया कि वह सरकार जो 'विकास' परियोजनाओं से उजड़े पांच करोड़ लोग़ों में से मुट्ठी भर को बचाने में नाकाम रही है, अचानक कैसे उन 300 से ज़्यादा विशेष आर्थिक क्षेत्रों (सेज) के लिए उद्योगपतियों को देने लायक 1,40,000 हेक्टेयर ज़मीन पहचान लेती है जो कि भारत के समृद्ध लोग़ों के लिए कररहित स्वर्ग है। उन्होंने पूछा-यह जानते हुए भी कि सरकार निजी निगमों को देने के लिए 'सार्वजनकि उद्देश्य' के नाम पर ज़मीन का बलात अधिग्रहण कर रही है, सर्वोच्च न्यायालय ने भूमि अधिग्रहण कानून में 'सार्वजनकि उद्देश्य' की परिभाषा की समीक्षा करने से इनकार कर दिया? यह किस किस्म का न्याय है? उन्होंने पूछा कि ऐसा क्यों होता है कि जब सरकार कहती है कि 'राजकीय आज्ञा को लागू होना चाहिए', तो इसका अर्थ सिर्फ यही लगता है कि पुलिस स्टेशन खड़े कर दिये जायें। न स्कूल, न दवाखाने, न मकान, न साफ पानी या वन उत्पादों की सही कीमत और न ही इतना कि कम से कम लोग़ों को पुलिस के डर से मुक्त अकेले छोड़ दिया जाये-ऐसी कोई भी चीज नहीं जिससे लोग़ों का जीवन कुछ आसान हो सके। उन्होंने पूछा कि आखिर क्यों 'सरकारी आज्ञा' का अर्थ कभी भी न्याय नहीं माना जा सकता?

एक वक्त था, करीब 10 साल पहले तक, जब इस तरह की बैठकों में नई आर्थिक नीति द्वारा थोपे गये 'विकास' के मॉडल पर बहस ही होती थी। अब इस मॉडल को पूरी तरह खारिज किया जा चुका है। अब कोई विचलन नहीं रहा है। इस पर गांधीवादियों से लेकर माओवादियों तक हर कोई सहमत है। अब सवाल सिर्फ यह है कि इस मॉडल को खत्म करने का सबसे प्रभावी तरीका क्या हो?

एक मित्र के पुराने सहपाठी जो कि कॉरपोरेट जगत में बड़ा नाम हैं, ऐसी ही एक बैठक में उस दुनिया के बारे में जिससे वह अनभिज्ञ थे, अपनी विकृत उत्सुकता के कारण चले आये। फैब इंडिया के कुर्ते की आड़ के बावजूद वह अपनी समृद्धि नहीं छिपा पाये। एक बिंदु पर वह मेरी ओर झुके और बोले, 'कोई इन्हें समझाये कि ये चिंता में न पड़ें। ये जीत नहीं पायेंगे। इन्हें आभास ही नहीं कि ये किसकी मुखालफत कर रहे हैं। यहां जितने पैसे का मसला है, उसके चलते ये कंपनियां मंत्रियों से लेकर मीडिया मालिकों और योजनाकारों, सभी को खरीद सकती हैं। वे अपने एनजीओ और मिलिशिया चला सकती हैं। वे माओवादियों को भी खरीद लेंगी। बेहतर हो ये भले लोग़ जान बचायें और अपने लिए कायदे का कोई काम ढूंढ लें।'

जब लोग़ों का उत्पीड़न और दमन किया जा रहा हो तो उनके पास 'लड़ने' के सिवा और कौन-सा 'कायदे' का काम रह जाता है? ऐसा नहीं कि उनके पास चुनने लायक कोई विकल्प है, सिवाय खुदकुशी के, जैसे कि कर्ज के जाल में फंसे 1,80,000 किसानों ने कर डाली।

पिछले कई बरसों से छत्तीसगढ़, उड़ीसा, झारखंड और पश्चिम बंगाल के लोग़ों ने बड़े निगमों को रोक रखा है। इनमें से कुछ माओवादी हैं, कुछ नहीं भी हैं। अब सवाल यह है कि आखिर ऑपरेशन ग्रीनहंट उनके संघर्षों की प्रकृति को किस तरह बदलेगा? ये लोग़ दरअसल लड़ किसके खिलाफ़ रहे हैं?

यह सही है कि ऐतिहासिक रूप से खनन कंपनियों ने तकरीबन हमेशा स्थानीय लोग़ों के खिलाफ़ लड़ाई में जीत हासिल की है। हथियार बनाने वाले निगमों को छोड़ दें तो बाकी सभी किस्म की कंपनियों में इनका अतीत शायद सबसे ज़्यादा नृशंस रहा है। ये विवेकहीन हैं, कई युद्धों का इनके पास अनुभव है, और जब लोग़ कहते हैं कि 'जान देंगे पर ज़मीन नहीं देंगे' तो यह नारा इन पर ऐसे पड़ता है जैसे पानी की एक फुहार बमों के गोदामों पर गिरती है। इन निगमों ने ऐसे नारे पहले भी सुने हैं, हज़ारों विभिन्न भाषाओं में और सैंकड़ों अलग-अलग देशों में।

इस समय इन कंपनियों के तमाम प्रतिनिधि भारत में पहले दर्जे के आगमन लाउंज में बैठे, अलसाये नरभक्षियों की तरह पलकें झपकाते, कॉकटेल का आर्डर देते उन एमओयू के मुनाफ़े में बदलने का इंतजार कर रहे हैं, जिन पर उन्होंने दस्तखत किये हैं। कुछ तो ऐसे हैं जिन पर 2005 में ही दस्तखत कर दिये गये थे। लेकिन पहले दर्जे के आगमन लाउंज में चार साल तक रहना धैर्यवान से धैर्यवान के लिए भी काफी है। लोकतांत्रिक अनुष्ठानों के विस्तृत पर खोखले कर्मकांडों, जन सुनवाइयों, पर्यावरण प्रभाव आकलन, विभिन्न मंत्रालयों से 'खरीदी' गईं मंजूरियों, लंबे अदालती मुकदमों के लिए वे इतनी ही छूट देने को तैयार हैं। और वक्त एक उद्योगपति के लिए पैसा है।

इसलिए, आखिर हम किस पैसे की बात कर रहे हैं? समरेन्द्र दास और फेलिक्स पैडल अपनी पुस्तक आउट ऑफ द अर्थ : ईस्ट इंडिया आदिवासीज एंड द अल्युमिनम कार्टेल में कहते हैं कि उड़ीसा में बाक्साइट के भंडारों का कुल मूल्य 2.27 ट्रिलियन डॉलर (भारत के सकल घरेलू उत्पाद के दोगुने से भी ज़्यादा) है। यह कीमत भी 2004 की दरों के हिसाब से हैं। आज कम से कम ये चार ट्रिलियन तो होगी ही।

इसमें से सरकार को सात फ़ीसदी से भी कम रॉयल्टी मिलती है। अक्सर ऐसा होता है कि यदि खनन कंपनी काफी जानी-मानी और बड़ी है तो अयस्क को पहाड़ में से निकालने के पहले ही वायदा बाज़ार में उनका सौदा कर लिया जाता है। इस तरह आदिवासियों के लिए जहां पहाड़ उनके साक्षात देवता के समान हैं, जीवन और आस्था के स्रोत हैं, क्षेत्र की पारिस्थितिकी का केंद्र हैं, वहीं निगम के लिए ये पहाड़ दरअसल, सस्ती भंडारण सुविधा से ज़्यादा और कुछ नहीं हैं। जाहिर है, भंडार से माल को तो निकालना ही होगा। यदि ऐसा शांतिपूर्वक नहीं किया जा सका तो इसे हिंसक तरीके से किया जायेगा। यही हैं मुक्त बाज़ार के दबाव और प्राथमिकतायें।

यह तो हुई उड़ीसा में सिर्फ बॉक्साइट की कहानी। इस चार ट्रिलियन में छत्तीसगढ़ और झारखंड में मौजूद करोड़ों टन उच्च गुणवत्ता लौह अयस्क और यूरेनियम, चूना पत्थर, डोलोमाइट, कोयला, टिन, ग्रेनाइट, संगमरमर, तांबा, हीरा, सोना, अभ्रक, कोरंडम, बेरील, अलेग्जेंराइट, सिलिका, फ्लोराइट और गार्नेट जैसे 28 अन्य बहुमूल्य खनिज संसाधनों को भी जोड़ लें। इसके बाद जोड़ें पावर प्लांट, बांध, हाई वे, स्टील और सीमेंट फैक्टरियां, एल्युमिनियम, स्मेल्टर तथा अन्य सभी एमओयू के तहत आने वाली ढांचागत परियोजनाओं को (जिनमें 90 से ज़्यादा एमओयू अकेले झारखंड में हैं)। इससे मोटा-मोटी यह अंदाज लग जाता है कि यह कवायद कितने बड़े पैमाने पर है और आखिर इससे जुड़े पक्ष इतने बेसब्र क्यों हैं? कभी दंडकारण्य नाम से जाना जाने वाला पश्चिम बंगाल से ले कर झारखंड, उड़ीसा, छत्तीसगढ़, आंध्रप्रदेश के कुछ हिस्सों और महाराष्ट्र तक फैला जंगल भारत के करोड़ों आदिवासियों का घर है। मीडिया इसे लाल गलियारा या माओवादी गलियारा कहने लगा है। इसे एमओयू गलियारा भी कहें तो गलत नहीं होगा। लगता है कि संविधान की पांचवीं अनुसूची में आदिवासियों को दी गई सुरक्षा और उनकी ज़मीनें लेने पर रोक का कोई मतलब ही नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह कानून संविधान में इसलिए जोड़ा गया है कि वह अच्छा दिखे-ऊपरी तौर पर सुंदर दिखने के लिए जैसे मेकअप किया जाता है। आज छोटे-मोटे से लेकर विशालतम खनन निगम भारी संख्या में आदिवासियों के इसी घर को हथिया लेने की होड़ में शामिल हैं- मित्तल, जिंदल, टाटा, एस्सार, पॉस्को, रियो टिंटो, बीएचपी बिलिटान और वेदांता तो है ही। हर पहाड़, नदी और जंगल पर एमओयू किया जा चुका है। हम अकल्पनीय दायरे वाली सामाजिक और पर्यावरणीय इंजीनियरिंग की बात कर रहे हैं। और इसका अधिकांश गोपनीय है। वह सार्वजनिक दायरे में नहीं है।

विकास वाली लॉबी कहती है कि खनन उद्योग जीडीपी की दर में जबरदस्त वृद्धि कर देगा और जिन लोगों को यह विस्थापित करेगा, उन्हें रोजगार देगा। इसमें कहीं भी पर्यावरण को होने वाले प्रलयंकारी नुकसान की बात नहीं की जाती। लेकिन यह उनकी बातों के हिसाब से झूठ है। अधिकतर पैसा तो खनन निगमों के बैंक खातों में चला जाता है। 10 फ़ीसदी से भी कम सरकारी कोष में आता है। बहुत कम संख्या में विस्थापित लोगों को नौकरियां मिलती हैं, और जिन्हें मिलती भी हैं, उनसे अपमानजनक कमरतोड़ मेहनत करवाई जाती है और मज़दूरी बंधुआ की तरह दी जाती है। लालच के इस आवेग में हम दरअसल, अपने पर्यावरण की कीमत पर दूसरे देशों की अर्थव्यवस्था को समृद्ध कर रहे हैं।

शेष पेज 6 पर

समय के साथ ही लोग़ों और कानून के रक्षकों के बीच की विभाजक रेखा पतली होती जायेगी। बंदूक और गोलियों की खरीद-फरोख्त होने लगेगी। दरअसल, ऐसा हो भी रहा है। चाहे वे सुरक्षा बल हों या माओवादी या फ़िर लड़ाई में शामिल आम नागरिक, अमीरों के इस युद्ध में निर्धनतम लोग़ ही मारे जायेंगे। लेकिन अगर कोई ऐसा सोच रहा है कि इस युद्ध से उसे कोई फर्क नहीं पड़ेगा तो उसे एक बार फिर से सोच लेना चाहिए। इस युद्ध में जो संसाधन लगने जा रहे हैं, वे इस देश की अर्थव्यवस्था को कुंद कर देंगे।